उपसंहार १

अन्नं बहु कुर्वीत

भारत अन्नानुशासन को निभाता रहा

बहु मात्रा में अन्न उत्पन्न करने और स्वयं अन्न ग्रहण करने से पूर्व अन्यों की क्षुधा शान्त करने के जिस अनुशासन की शिक्षा भारत के चिरन्तन ऋषि दे गये हैं, उस अनुल्लङ्घनीय अनुशासन का निर्वाह भारत के महान् राजा, तपस्वी एवं सामान्य गृहस्थ सर्वदा करते रहे हैं। अन्नबाहुल्य एवं अन्नदान का यह अनुशासन भारतीय चिन्तन और भारत के सहज सार्वजनिक जीवन की मूलभूत मर्यादाओं का अङ्ग बना रहा है। सुदूर अतीत से लेकर प्रायः वर्तमान काल तक भारतवर्ष के विभिन्न क्षेत्रों में बसने वाले और विभिन्न सांस्कृतिक मर्यादाओं का वहन करने वाले भारतीय अन्नबाहुल्य एवं अन्नदान की मर्यादा का पालन सदैव करते आये हैं। विभिन्न क्षेत्रों एवं विभिन्न कालों में रचे गये भारतीय साहित्य में सब की सन्तुष्टि के लिये किये जाने वाले महान् यज्ञों एवं अन्यों की क्षुधा की शान्ति के लिये किये गये महान् बलिदानों का उल्लेख यत्र-तत्र मिलता ही रहता है। और, सभी क्षेत्रों एवं सभी कालों के राजा इतना तो सर्वदा सुनिश्चित करते आये हैं कि उनके संरक्षण में आने वाली भूमि पर अन्नबाहुल्य एवं अन्नदान का अनुशासन क्षीण न होने पाये, सर्वत्र अन्न की प्रचुरता बनी रहे और कहीं कोई भूखा रहने को विवश न हो।

आपुत्रन् के तप की गाथा

इस सन्दर्भ में आपुत्रन् के तप सम्बन्धी सुप्रसिद्ध तमिल कथा विशेष उल्लेखनीय है। तमिल भाषा में 'मणिमेखलै' नाम का प्राचीन बौद्ध महाकाव्य अत्यन्त विख्यात है। आपुत्रन् की कथा इस महाकाव्य के अनेक मर्मस्पर्शी कथानकों में से एक है। आपुत्रन् एक अक्षय पात्र के साथ एक निर्जन द्वीप पर अकेले छूट जाते हैं, और क्योंकि उस द्वीप पर ऐसा अन्य कोई नहीं है जिस के

Centre for Policy Studies www.cpsindia.org

साथ वे उस अक्षय पात्र से प्राप्त भोजन को बाँट सकें अतः वे स्वयं भी उस पात्र से भोजन का उपभोग नहीं कर पाते। इस प्रकार कदापि अकेले अपने ही लिये भोजन का उपभोग न करने की मर्यादा का पालन करते हुए आपुत्रन् उस निर्जन द्वीप पर अपने अक्षय पात्र को हाथ में लिये हुए भूखे मर जाते हैं।[१]

मणिमेखलै कालातीत वेद-उपनिषद् एवं इतिहासों से भिन्न ऐतिहासिक काल का ग्रन्थ है। तमिल साहित्य में मणिमेखलै के साथ ही एक अन्य ग्रन्थ 'शिलप्पधिकारम्' का नाम भी लिया जाता है। मणिमेखलै और शिलप्पधिकारम् प्राचीन तमिल साहित्य के युग्म महाकाव्य हैं, शिलप्पधिकारम् के पात्र-पात्रों की अगली पीढ़ी की कथा मणिमेखलै में कही गयी है। परन्तु जहाँ शिलप्पधिकारम् का किसी विशेष सम्प्रदाय के प्रति कोई आग्रह नहीं है वहीं मणिमेखलै निश्चय ही तमिल बौद्धों का साम्प्रदायिक ग्रन्थ दिखायी देता है। मणिमेखलै के रचयिता शात्तनार आग्रहपूर्वक अपने काव्य को वैदिक परम्परा से पृथक् करने का प्रयास करते हैं, वे वैदिक परम्परा के वाहक लोगों का उल्लेख करते हुए उनके लिये 'नान्मरै माक्कल्'[२] – चार रहस्यों का बोझा ढोने वाले ढोर – और ऐसे ही अन्य अपनामों का उपयोग करते हैं। और, ऐसे सम्प्रदायबद्ध महाकाव्य मणिमेखलै का आपुत्रन् स्वयं खाने से पहले अन्यों को खिलाने के अनुशासन के प्रति इतना समर्पित है कि इस अनुशासन का निर्वाह करते हुए जो बलिदान उसने किया उसकी उपमा महाभारत में वर्णित कुरुक्षेत्र के उस उञ्छवृत्ति ब्राह्मण और महाभारत के ही उस धर्मनिष्ठ कपोत के बलिदान को छोड़कर अन्यत्र कहीं पाना कठिन है। तमिल बौद्ध महाकाव्य मणिमेखलै के नायक आपुत्रन् का महान् कृत्य निश्चय ही 'केवलाघो भवति केवलादी' के सनातन श्रुतिवाक्य की सम्पूर्ण भारतवर्ष में सार्वकालिक सार्वत्रिक मान्यता का द्योतक है।

मणिमेखलै की कथा के अनुसार आपुत्रन् वाराणसी के एक ब्राह्मण की पत्नी शालि का पुत्र था। शालि वाराणसी में अपने पति के घर को त्याग कर भारतवर्ष के दक्षिण छोर पर स्थित कन्याकुमारी के दर्शन के लिये निकली थी। इस लम्बी यात्रा के मध्य में ही उसका गर्भ सम्पूर्णता को प्राप्त हुआ और सुदूर दक्षिण के एक गाँव के बाहर रात के अन्धेरे में शालि ने एक पुत्र को जन्म दिया। अपने घर से तो वह निष्कासित हो चुकी थी, अतः मार्ग में उत्पन्न हुए अपने बच्चे को वहीं खुले खेत में छोड़कर शालि अपनी यात्रा पर आगे बढ़ गयी।

खुले खेत में इस प्रकार अकेले निराश्रय पड़े बच्चे का रुदन सुन एक गाय वहाँ पहुँची। उस

[१] मणिमेखलै, अध्याय १३-१४, पृ.२७४-२९६।
[२] मणिमेखलै १३.६९, पृ.२७५।

गाय ने अपनी जीभ से स्नेहपूर्वक चाट-चुपकार कर उस नवजात शिशु को सान्त्वना दी और अपने मधुर दूध से उसका पोषण करने लगी। उस स्नेहशीला गाय ने सात दिन तक उस अनाथ बच्चे की देखभाल की। तभी उस शिशु का नाम आपुत्रन् पड़ा, तमिल में गाय के लिये 'आ' शब्द का प्रयोग किया जाता है, अतः गाय का पुत्र आपुत्रन् हुआ।

सात दिन पूरे होने पर पड़ोस के किसी गाँव के एक ब्राह्मण दम्पती की दृष्टि गाय द्वारा पोषित उस अनाथ शिशु पर पड़ी। ब्राह्मण और उसकी पत्नी उस बच्चे को अपनी ही सन्तान मानते हुए उसे घर ले गये और आस-पड़ोस में घोषणा करवा दी कि उन्हें पुत्ररत्न का प्रसाद प्राप्त हुआ है। वह शिशु ब्राह्मण सगे-सम्बन्धियों के मध्य बड़ा हुआ और विधिवत् अध्ययन कर वैदिक विद्याओं में पारङ्गत हुआ।

तब भाग्यवश एक दिन आपुत्रन् का किसी गाय को लेकर गाँव के अन्य ब्राह्मणों के साथ कुछ विवाद हो गया। कलह के बढ़ने पर अनेक लोग वहाँ एकत्र हो विभिन्न प्रकार की ऊँची-नीची बातें कहने लगे। तभी वहाँ खड़े किसी ब्राह्मण ने उन सब लोगों के समक्ष आपुत्रन् के जन्म और उसकी माँ द्वारा उसके परित्याग की घटना की चर्चा कर दी। कन्याकुमारी की यात्रा से लौटते हुए आपुत्रन् की माँ शालि की उस ब्राह्मण से भेंट हुई थी, और उसे सहृदय सहयात्री जान शालि ने अपनी व्यथाकथा का वर्णन उससे कर दिया था। उस ब्राह्मण ने इतने लम्बे समय तक उस रहस्य को अपने हृदय में ही छिपाये रखा था, परन्तु अब विवाद के आवेश में उसने आपुत्रन् के जन्म के उस रहस्य को प्रायः सारे गाँव के सामने अनावृत कर दिया।

अपने जन्म की कथा सुनते ही आपुत्रन् अपना पालन-पोषण करने वाले उस सदय ब्राह्मण दम्पती को छोड़ मदुरै नगर की ओर निकल पड़ा। अपने समय की अत्यन्त वैभवशाली नगरी मदुरै में पहुँचकर उसने चिन्तादेवी के मन्दिर में शरण ली। चिन्तादेवी वाणी एवं विद्या की अधिष्ठात्री देवी हैं, जिनका स्मरण हम सरस्वती के नाम से भी करते हैं। चिन्तादेवी के उस भव्य मन्दिर में रहते हुए आपुत्रन् प्रतिदिन भिक्षा पात्र लेकर दक्षिण की उस महान् नगरी के उदार एवं समर्थ गृहस्थों के द्वार पर पहुँच जाता था। इस प्रकार प्रतिदिन प्रचुर मात्रा में भिक्षा एकत्र कर वह मन्दिर लौटता और आसपास जो भी चक्षु, श्रोत्र एवं गति से हीन अथवा अन्यथा दुर्बल या निराश्रय जन होते, उन सब को वहाँ बुला उनसे भोजन ग्रहण करने का आग्रह करता। भिक्षा से जुटाये गये अन्न से आसपास के सभी क्षुधित जनों की स्नेह एवं सत्कारपूर्वक क्षुधा शान्त करने के उपरान्त ही वह स्वयं भोजन किया करता था। और, अन्यों को खिलाने के पश्चात् बचे अवशिष्ट अन्न का उपभोग कर धर्मज्ञ एवं धर्मनिष्ठ आपुत्रन् अपने भिक्षापात्र का ही सिरहाना बनाकर वहीं मन्दिर के खुले आँगन में सहर्ष सो जाता था।

भारत अन्नानुशासन को निभाता रहा

एक दिन जब आपुत्रन् इस प्रकार मन्दिर के आँगन में सोया हुआ था तब देर रात में वहाँ कुछ यात्री आ पधारे। वे लम्बी एवं कठिन यात्रा करते हुए वहाँ पहुँचे थे, मार्ग के श्रम से वे श्रान्त थे और भूख से त्रस्त। परन्तु आपुत्रन् तो स्वयं प्रतिदिन भिक्षा माँगकर ही अपना पेट भरता था, उसके पास अन्न का कोई संग्रह होने का तो प्रश्न ही नहीं था। देर रात में आये उन अतिथियों के सत्कार के लिये वह अन्न कहाँ से लाता? अतिथिधर्म की मर्यादा के निर्वाह में अपने आप को इस प्रकार असमर्थ पा आपुत्रन् गहन अवसाद में डूब गया। उसे अवसन्न देख स्वयं चिन्तादेवी विचलित हो उठीं। तुरन्त वे आपुत्रन् के समक्ष प्रकट हुईं और उसे एक अक्षयपात्र भेंट करते हुए वर दिया कि चाहे सारी पृथिवी अकाल से ग्रस्त हो जाये, आपुत्रन् के उस पात्र से भोजन का प्रवाह बना ही रहेगा, और उस पात्र से भोजन ग्रहण करने वाले चाहे लेते-लेते थक जायें परन्तु उस पात्र में भोजन कभी क्षीण नहीं होगा।

आपुत्रन् ने अत्यन्त श्रद्धापूर्वक देवी के हाथों से वह दिव्य पात्र स्वीकार किया और उस पात्र के भोजन से सर्वप्रथम देर रात के समय अपने विश्राम स्थान पर आये उन क्षुधित एवं श्रान्त अतिथियों को तृप्त किया। उसी समय से लेकर वह निरन्तर उस पात्र के भोजन से अपने आस-पड़ोस में सब ओर क्षुधितों की क्षुधा मिटाने लगा। उस के आसपास नित्य भोजनाकाङ्क्षी मनुष्यों, पशुओं एवं पक्षियों की भीड़ लगी रहती, और वह उन सब को भोजन से सन्तुष्ट करता रहता। उसके पास जुटे मनुष्यों, पशुओं एवं पक्षियों के प्रसन्न स्वर ऐसे सुनाई देते थे मानों फलो से लदे किसी पेड़ पर पक्षियों के झुण्ड चहक रहे हों। और किसी भव्य फलवान् वृक्ष की ही भाँति आपुत्रन् अपने आश्रय में आने वाले प्रत्येक अतिथि को क्षुधा एवं श्रान्ति से निवृत्त करता जाता था।

आपुत्रन् के उस निरन्तर अन्नदान की ऐसी ख्याति हुई कि देवों के राजा इन्द्र उससे ईर्ष्या करने लगे। आपुत्रन् को अपने उस महान् कर्म से विचलित करने के लिये अन्ततः इन्द्र स्वयं ही निर्बल वृद्ध के रूप में आपुत्रन् के पास पहुँचे और उसकी समस्त कामनाओं की पूर्ति का लोभ उसे दिखाने लगे। परन्तु आपुत्रन् ने उस वृद्ध के रूप में उपस्थित हुए देवों के राजा इन्द्र का उपहास करते हुए कहा – ''देखिये, यह दिव्य पात्र क्षुधितों की क्षुधा शान्त कर दुःख से ग्रस्त मुखों को तुरन्त सन्तुष्टि के तेज से दीप्त कर देता है। क्षुधा से निस्तेज हुए मुखों पर सन्तोष की इस दीप्ति का सञ्चार होता देखने से बड़ा सुख भला और क्या हो सकता है? देवों के राजा इन्द्र, तुम मुझे अन्नदान के इस दिव्य आनन्द से अधिक आनन्ददायक कौन सी वस्तु दोगे? खाने के लिये सुस्वादु भोजन? या पहनने के लिये सुन्दर कपड़े? या साथ निभाने के लिये युवा सहचरियाँ?''[३]

[३] मणिमेखलै १४.४४-४८, पृ.२९५।

Centre for Policy Studies www.cpsindia.org

आपुत्रन् के तप की गाथा

आपुत्रन् से इस प्रकार तिरस्कृत हो इन्द्र ने समस्त पृथिवी को धन-धान्य से सम्पन्न कर देने का सङ्कल्प किया– पृथिवी पर न कहीं कोई अभाव होगा और न ही कोई आपुत्रन् के हाथ से भोजन ग्रहण करने आयेगा। इन्द्र के प्रभाव से सब स्थानों पर सुसमय में प्रचुर वृष्टि होने लगी और शीघ्र ही समस्त पृथिवी पर सुभिक्ष व्याप गया। सब स्थानों पर अन्न का ऐसा प्राचुर्य हुआ कि लोग क्षुधा के दुःख को सर्वथा भूल गये और चिन्तादेवी के मन्दिर में आपुत्रन् के दिव्य अक्षय-पात्र से भोजन ग्रहण करने आने वाला कोई न रहा।

तब आपुत्रन् अपना अक्षयपात्र लेकर गाँव-गाँव घूमने लगा। परन्तु कहीं भी उसे कोई ऐसा क्षुधित नहीं मिला जो उसके पात्र से भोजन ग्रहण करने को तत्पर हो। वस्तुतः, स्थान-स्थान पर लोग आपुत्रन् की हँसी उड़ाने लगे। जब सहज ही अन्न का ऐसा बाहुल्य हो तो कोई किसी दिव्य पात्र की अपेक्षा क्यों करे?

इस प्रकार निराश भटकते हुए आपुत्रन् को एक स्थान पर कुछ नाविक मिले। वे कुछ ही समय पहले अपनी समुद्रयात्रा से लौटे थे और उनकी सूचना थी कि समुद्र पार सावकदेश में सूखा पड़ा है और वहाँ लोग भूख से मर रहे हैं। सावक सम्भवतः आज के जावा का ही प्राचीन तमिल नाम है। सावकदेश में व्याप्त अकाल की सूचना पाते ही आपुत्रन् उन नाविकों के साथ हो लिया। उनका पोत सावक की ही यात्रा पर निकल रहा था, आपुत्रन् भी उसी पोत पर चढ़ बैठा। मार्ग में सहसा समुद्र विक्षुब्ध हो उठा और पोत ने मणिपल्लव द्वीप के तट पर शरण ली। पोत को तट पर रुका देख आपुत्रन् द्वीप पर उतरकर अकारण इधर-उधर घूमने लगा। इसी मध्य समुद्र शान्त हो गया और आपुत्रन् की अनुपस्थिति से अनजान नाविक पोत को तट से निकाल अपनी यात्रा पर आगे बढ़ गये। आपुत्रन् उस निर्जन द्वीप पर अकेला छूट गया।

आपुत्रन् के पास चिन्तादेवी के प्रसाद से प्राप्त वह अक्षयपात्र अभी भी था। परन्तु उस निर्जन द्वीप पर तो अन्य कोई भी नहीं था, और किसी अन्य को खिलाये बिना उस दिव्य पात्र के भोजन का वह अकेले कैसे उपभोग कर सकता था? इस प्रकार सोचते हुए आपुत्रन् ने अपने-आप से ही कहा कि, ''यह पात्र तो मुझे अन्यों का पोषण करने के लिये ही प्राप्त हुआ था, इस पात्र से मैं अकेले अपना पोषण तो कदापि नहीं कर सकता। निश्चय ही मेरे तप का सञ्चित फल क्षीण हो चुका है। अब इस दिव्य अक्षयपात्र को अपने साथ लिये घूमने का क्या उपयोग?''[४]

अपने-आप से ऐसा कहकर आपुत्रन् ने वह अक्षयपात्र उस द्वीप पर स्थित गोमुखी नाम की एक भव्य झील के निर्मल पानी में विसर्जित कर दिया। और सर्वथा निराहार रहने का व्रत लेकर उसने उस द्वीप पर अपने प्राण त्याग दिये।

---

[४] मणिमेखलै १४.८७-९०, पृ.२९६।

Centre for Policy Studies www.cpsindia.org

भारत अन्नानुशासन को निभाता रहा

महाकाव्य की कथा के अनुसार समय पाकर वह दिव्य पात्र महाकाव्य की नायिका मणिमेखलै को प्राप्त हुआ और उस पात्र के प्रभाव से वह भी अन्यों की क्षुधा शान्त करने वाली महान् साध्वी के रूप में विख्यात हुई। उचित समय पर आपुत्रन् ने सावकदेश के राजा की गाय के गर्भ से पुनर्जन्म लिया और सावकदेश के धर्मनिष्ठ राजा पुण्यराजन् के नाम से उसकी ख्याति हुई।

आपुत्रन् निश्चय ही उन विभ्रमित लोगों को प्राप्त होने वाली भयङ्कर गति को जानता था जो अन्न का प्रसाद पाकर उसे अन्यों में बाँटे बिना अकेले ही उसका भक्षण कर लेते हैं। उस निर्जन द्वीप पर अकेले छूट जाने पर उसने निराहार रहकर मरना स्वीकार किया परन्तु अपने पास उपलब्ध अक्षयपात्र से अकेले अपने लिये अन्न का उपभोग करना नहीं। 'केवलादी' होकर 'केवलाघ' होने, केवल पाप के ही भागी होने, और भूख से प्राण गँवाने के मध्य दुविधा उपस्थित होने पर आपुत्रन् ने स्वेच्छा से मृत्यु का ही वरण किया।

राजा हर्षवर्धन के यज्ञ

अन्यों से बाँटने के उपरान्त ही स्वयं उपभोग की ओर प्रवृत्त होने का यह अनुल्लङ्घनीय अनुशासन विभिन्न कालों एवं विभिन्न क्षेत्रों के साहित्य मात्र में ही प्रतिष्ठित नहीं हुआ। विभिन्न कालों एवं क्षेत्रों के राजा भी अपने-अपने समय की राज्य एवं समाज व्यवस्थाओं को 'संविभाग कर उपभोग करने' के सनातन सिद्धान्त के अनुरूप ही ढालते आये हैं।

भारतीय इतिहास के जिन राजाओं के काल सम्बन्धी हमें समुचित जानकारी उपलब्ध है उनमें राजा हर्षवर्धन की महिमा बहुत ऊँची है। हुयेन-त्सांङ्ग नाम का प्रसिद्ध चीनी विद्वान् राजा हर्षवर्धन के काल में भारत की यात्रा पर आया था। उस विद्वान् यात्री के वृत्तान्तों से हमें राजा हर्षवर्धन के राज्य के विषय में अत्यन्त विशद जानकारी मिलती है।और हुयेन-त्साङ्ग के वृत्तान्तों में राजा हर्षवर्धन के राज्य का जो पक्ष प्रमुखता से उभरकर आता है वह संविभाग के सिद्धान्त के प्रति उनकी अद्भुत श्रद्धा से ही सम्बन्ध रखता है। हुयेन-त्साङ्ग के अनुसार राजा हर्षवर्धन प्रति पाँचवें वर्ष गङ्गा-यमुना के सङ्गमस्थल प्रयाग में एक भव्य यज्ञ का आयोजन कर राजकीय कोष में एकत्रित हुई सारी सम्पदा लोगों में बाँट दिया करते थे और फिर अपने पहनने के वस्त्र तक अपनी बहिन से माँगकर पुनः राजकीय कोष के लिये योगक्षेम की प्रक्रिया प्रारम्भ करते थे।

हुयेन-त्साङ्ग के शिष्यों श्रमण हुई-ली और श्रमण येन-त्सुङ्ग ने अपने गुरु के जीवनचरित्र

में भारत यात्रा के उनके अनुभवों का विस्तृत सङ्कलन किया है। श्रमण ली एवं श्रमण त्सुङ्ग द्वारा रचित हुयेन-त्साङ्ग के इस जीवनचरित्र में राजा हर्षवर्धन के एक ऐसे यज्ञ का वर्णन हुआ है जिसमें हुयेन-त्साङ्ग स्वयं उपस्थित थे। हुयेन-त्साङ्ग के आँखों देखे इस यज्ञ का वर्णन पढ़ते हुए ऐसा आभास होता है कि मानो वे राजा श्रीराम अथवा राजा युधिष्ठिर जैसे किसी पूर्वयुगीन भारतीय राजा के यज्ञ में ही सम्मिलित हुए हों। नीचे हम हुयेन-त्साङ्ग के चीनी जीवनचरित्र के उन्नीसवीं शती में किये गये एक अङ्ग्रेजी अनुवाद से राजा हर्षवर्धन के उस यज्ञ के वृत्तान्त का कदाचित् मुक्त हिन्दी रूपान्तर प्रस्तुत कर रहे हैं। इस वृत्तान्त में राजा हर्षवर्धन का शिलादित्य राजा के नाम से और हुयेन-त्साङ्ग का धर्माचार्य के विशेषण से उल्लेख हुआ है। श्रमण हुई-ली और श्रमण येन-त्सुङ्ग लिखते हैं[५] –

''धर्माचार्य हुयेन-त्साङ्ग ने उन्नीसवें दिन उस सम्मेलन के सम्पन्न होने के उपरान्त, नालन्दा विहार के भिक्षुओं से विदा ली और अपनी पुस्तकें एवं प्रतिमाएँ एकत्र कर घर लौटने के विचार से शिलादित्य राजा के समक्ष प्रस्तुत हुए।

''राजा ने कहा – 'आपका यह शिष्य अपने पूर्वजों से राजसत्ता पाने के उपरान्त तीस वर्षों से भारत पर राज्य करता आ रहा है। इस अवधि में मुझे सर्वदा यह चिन्ता बनी रही है कि मेरे पूर्व कर्मों का सञ्चित पुण्य कदाचित् पर्याप्त नहीं हैं। अतः मैं प्रत्येक पाँचवें वर्ष प्रयागराज में गङ्गा एवं यमुना के सङ्गम पर एक महान् धर्म सभा का आयोजन करता हूँ। तब वहाँ सङ्गम पर राज्य के समस्त कोष एवं समस्त प्रकार के बहुमूल्य पदार्थों का संग्रह किया जाता है और उस सभा में भाग लेने के लिये पाँचों भारत खण्डों के सभी ब्राह्मणों एवं सभी श्रमणों के अतिरिक्त समस्त दरिद्रों एवं अनाथों को वहाँ आमन्त्रित किया जाता है। उस सभा की पचहत्तर दिन की अवधि में उदारतापूर्वक निरन्तर दान का सत्र चलता है। सतत दान के इस सत्र को 'मोक्ष' कहा जाता है। अपने राज्यकाल में मैं इस प्रकार की पाँच धर्मसभाओं का आयोजन कर चुका हूँ। अब छठी सभा के आयोजन का उपक्रम हो रहा है। आप अपना प्रस्थान किञ्चित् स्थगित कर इस सभा तक रुकिये और हमारे साथ चलकर इस भव्य आयोजन का आनन्द लीजिये।'

''शिलादित्य राजा के इस निवेदन के उत्तर में धर्माचार्य हुयेन-त्साङ्ग ने कहा, 'बोधिसत्त्व ने अपने पुण्य कर्मों एवं अनुशासित आचार से अपने-आप को बोध प्राप्ति के योग्य बनाया। बुद्धिमान् व्यक्ति अपने पुण्य कर्मों का फल भोगते हुए यह कदापि नहीं भूलता कि पुण्य कर्म ही सुखप्राप्ति का कारण हैं। यदि स्वयं महाराज अन्यों के भले के लिये अपने समस्त कोष का व्यय

[५] हुयेन-त्साङ्ग, पृ.१८३-७।

Centre for Policy Studies www.cpsindia.org

करते हुए कोई सोच-विचार नहीं करते तो मैं हुयेन-त्साङ्ग घर के लिये अपने प्रस्थान में किञ्चित् देरी का क्यों विचार करूँ। मुझे महाराज के साथ प्रयागयात्रा पर चलने की अनुमति दी जाये।'

''राजा यह सुनकर अत्यन्त प्रसन्न हुए। उन्नीसवें दिन वे हुयेन-त्साङ्ग को लेकर प्रयागराज पहुँचे और वहाँ सीधे महान् दानसत्र के लिये निश्चित किये गये वृहत् प्राङ्गण में गये। इस दान-प्राङ्गण के उत्तर में गङ्गा और दक्षिण में यमुना बह रही थी। उत्तरपश्चिम से पूर्व की ओर बहती हुई इन नदियों का यहीं प्रयागराज में सङ्गम होता है।

''गङ्गा-यमुना के सङ्गमस्थान के पश्चिम की ओर चौदह या पन्द्रह 'ली' की परिधि में फैला हुआ एक विस्तृत क्षेत्र है। यह क्षेत्र दर्पण-सा समतल एवं सपाट है। प्राचीन काल से विभिन्न राजा दान बाँटने के उद्देश्य से इस स्थान पर आते रहे हैं। इसीसे इस क्षेत्र का नाम 'दान-प्राङ्गण' पड़ गया है। कहा जाता है कि यहाँ दिये गये दमड़ी मात्र दान का पुण्य अन्य किसी स्थान पर दिये गये सहस्रों के दान से भी अधिक होता है। पुरातन काल से ही इस स्थान की ऐसी ऊँची मान्यता चली आ रही है।

''शिलादित्य राजा ने उस विस्तृत क्षेत्र में बाँस की बाड़ से सहस्र पग लम्बा एवं सहस्र पग चौड़ा एक चौकोर बनाने का निर्देश दिया। इस चौकोर प्राङ्गण में दान बाँटा जाना था। राजा के आदेश से क्षेत्र के मध्य में छप्पर तान-तान कर बीसियों कच्चे घर बनाये गये। इन कच्चे घरों में दान के लिये लाया गया कोष रखा गया। इस कोष में सोना, चाँदी, बहुमूल्य मोती, पद्मराग और इन्द्रनील मणि एवं महानील मणि जैसे अमूल्य रत्न थे। सोना-चाँदी एवं मणि-मानिक से परिपूर्ण इन घरों के पार्श्व में राजा ने सैकड़ों लम्बे-लम्बे बारजे बनवाये। इनमें सूती एवं कौशेय वस्त्रों और सोने-चाँदी के सिक्कों के भण्डार एकत्रित किये गये।

''बाँस की बाड़ के बाहर राजा ने अन्नवितरण के लिये अनेक स्थान बनवाये। इन सबके अतिरिक्त उसने विभिन्न कोषागारों के सामने लम्बे-लम्बे सैकड़ों गलियारे बनवाये। हमारी राजधानी के प्रमुख चौकों के गलियारों जैसे इन भव्य गलियारों में से प्रत्येक में प्रायः एक सहस्र लोग विश्राम कर सकते थे।

''इन सब उपक्रमों को प्रारम्भ करवाने के कुछ पूर्व ही राजा ने पाँचों भारतखण्डों में घोषणा करवाकर सभी श्रमणों, निर्ग्रन्थियों एवं अन्य समस्त धर्मावलम्बियों को और समस्त दरिद्रों, अनाथों एवं अन्यथा निराश लोगों को दान-प्राङ्गण में पहुँचकर वहाँ एकत्रित सम्पति को दान में स्वीकार करने के लिये बुला भेजा था।

''धर्म गुरु हुयेन-त्साङ्ग इस मध्य कान्यकुब्ज की सभा में पहुँच गये थे और अब वे शीघ्रता से उस दानक्षेत्र की ओर लौट आये। अठारह राज्यों के राजा भी महाराज हर्षवर्धन के पीछे-

पीछे उस दान क्षेत्र में एकत्रित होने के उद्देश्य से आ पहुँचे। वहाँ आकर उन्होंने देखा कि प्रायः ५००,००० लोग वहाँ पहले ही पहुँच चुके थे।

''शिलादित्य राजा ने गङ्गा के उत्तरी तट पर अपना शिविर स्थापित किया। दक्षिण भारत के राजा ध्रुवभट्ट का शिविर सङ्गम के पश्चिम की ओर लगा। कुमार राजा ने यमुना के दक्षिण में पुष्प वाटिकाओं के पास अपना डेरा जमाया। दान ग्रहण करने आये जनसमूह को ध्रुवभट्ट राजा के शिविर के पश्चिम की ओर निवासस्थान दिया गया।

''आयोजन के लिये निश्चित दिन प्रातः शिलादित्य राजा एवं कुमार राजा के समस्त सैनिक अनुचर नावों पर आरूढ हुए एवं ध्रुवभट्ट राजा के अनुचर हाथियों पर चढ़ बैठे। इस प्रकार सब लोग भव्य शोभायात्रा में निकलकर सभास्थल पर पहुँचे।

''पहले सत्र के पहले दिन दान-प्राङ्गण में स्थित छप्पर से ढके एक कच्चे घर के भीतर बुद्ध की प्रतिमा स्थापित की गयी। तदुपरान्त मधुर सङ्गीत के स्वरों और फूलों की बौछार के मध्य अत्युत्तम कोटि के बहुमूल्य पदार्थ और वस्त्र बाँटे गये और सब को उत्कृष्ट भोजन से सन्तुष्ट किया गया। इस प्रकार दिन बीतने पर सभी लोग अपने-अपने शिविरों को लौट गये।

''दूसरे दिन उन्होंने आदित्यदेव की प्रतिमा की स्थापना की और पहले दिन की तुलना में आधे मूल्य के बहुमूल्य पदार्थ एवं वस्त्र बाँटे।

''तीसरे दिन ईश्वरदेव की प्रतिमा की स्थापना की गयी और दूसरे दिन ही के समान बहुमूल्य उपहार दान में दिये गये।

''चौथे दिन एक सौ पङ्क्तियों में सज्जित विभिन्न धार्मिक सम्प्रदायों के दस-दस सहस्र अनुयायिओं को उपहार बाँटे गये। उनमें से प्रत्येक को सौ स्वर्ण मुद्रायें, एक मोती, एक सूती वस्त्र, खाने-पीने के लिये विभिन्न सुस्वादु पदार्थ और पुष्प एवं सुगन्धित द्रव्य भेंट किये गये। इस दानसत्र के पश्चात् वे सब अपने-अपने शिविरों को लौट गये।

''इस क्रम में पाँचवाँ आयोजन ब्राह्मणों को भेंट-उपहार देने का था। यह आयोजन बीस दिन चला।

''छठा आयोजन अन्य धर्मावलम्बियों को दान बाँटने का था। यह आयोजन दस दिन चला।

''तदुपरान्त सुदूर स्थानों से आये याचकों को दान देने का आयोजन हुआ और यह भी दस दिन तक चला।

''आठवाँ आयोजन निर्धन, अनाथ एवं दरिद्र जनों के लिये दान बाँटने का था। यह दान एक महीने तक चलता रहा।

''इस अन्तिम आयोजन के सम्पन्न होते-होते पाँच वर्षों में सञ्चित सम्पूर्ण कोष समाप्त हो

गया। अश्वों, हाथियों और सार्वजनिक व्यवस्था एवं राजकीय सम्पदा के लिये आवश्यक सैनिक साज-सामान के अतिरिक्त कुछ शेष नहीं रहा। राजकीय कोष में सञ्चित धन-सम्पदा के साथ-साथ राजा ने अपने निजी आभूषण एवं अन्य वस्तुएँ, अपने वस्त्र, हार, कुण्डल, कड़े, कण्ठियाँ और ज्वलन्त शिरोभूषण दान में दे दिये। उसने यह सब मुक्तहस्त हो दान कर दिया।

''इस प्रकार अपना सर्वस्व दान करने के उपरान्त राजा ने अपनी बहिन से एक साधारण-सा पुराना वस्त्र भिक्षा के रूप में ग्रहण किया और इस वस्त्र को पहनकर उसने दसों दिशाओं के बुद्धों को अपनी पूजा अर्पित की। श्रद्धापूर्वक हाथ जोड़कर और आनन्द से अभिभूत होते हुए उसने बुद्धों के प्रति निवेदन किया कि, 'इस समस्त धन-सम्पदा का सञ्चय करते हुए मुझे सर्वदा यह भय बना रहता था कि इस कोष की समुचित सुरक्षा के लिये पर्याप्त सुरक्षित स्थान का प्रबन्ध नहीं हो पाया। अब इस पुण्य-क्षेत्र में इस कोष को दान में वितरित कर देने के पश्चात् मैं निश्चय पूर्वक कह सकता हूँ कि यह सब धन-सम्पदा सुरक्षित अपने स्थान पर पहुँच गयी है। मैं शिलादित्य अपने समस्त भावी जन्मों में इसी प्रकार अपनी सञ्चित सम्पदा का मानव-मात्र में धर्मपूर्वक वितरण करता रहूँ, और उस दान के प्रभाव से अपने में बुद्ध के दशबलों का सञ्चय कर पाऊँ।' ''

प्रत्येक पाँचवें वर्ष आयोजित किये जाने वाले राजा हर्षवर्धन के इस महान् दानसत्र का वृत्तान्त पढ़ते हुए भारतीय बोध के कालातीत आदर्श राजाओं के महान् यज्ञों का स्मरण बरबस हो आता है। राजा श्रीराम, राजा दशरथ अथवा राजा युधिष्ठिर की ही भाँति राजा हर्षवर्धन यज्ञ के आयोजन के लिये सावधानीपूर्वक अपनी राजधानी से बाहर किसी पुण्य क्षेत्र का चुनाव करते हैं। राजा हर्षवर्धन इस कार्य के लिये गङ्गा-यमुना के सङ्गम पर स्थित तीर्थराज प्रयाग का वरण करते हैं, उनके काल में यह अत्यन्त पुण्य सङ्गम क्षेत्र सम्भवतः उनके पूर्ववर्ती राजाओं के इस क्षेत्र में फलित औदार्य के फलस्वरूप ही 'दान-प्राङ्गण' के रूप में विख्यात था। पुनः भारत के कालातीत राजाओं के समान ही राजा हर्षवर्धन भारतवर्ष के समस्त लोगों को यज्ञ में भाग लेने के लिये आमन्त्रित करते हैं, अपने दानसत्र के प्रारम्भ से पूर्व वे पाँचों भारतखण्डों में घोषणा करवाते हैं कि सभी 'श्रमण, निर्ग्रन्थी एवं अन्य धर्मावलम्बी और सभी दरिद्र, अनाथ एवं अन्यथा निराश जन' उस दान-प्राङ्गण में आयें और वहाँ एकत्रित धन-सम्पदा को दान में स्वीकार करें। भारत के कालातीत राजाओं के यज्ञों की भाँति ही राजा हर्षवर्धन के यज्ञ में असंख्य लोगों के रहने-ठहरने और अन्नपान की वृहत् व्यवस्था की जाती है। इस सारी व्यवस्था के सम्पन्न होने पर जब राजा हर्षवर्धन यज्ञभूमि की ओर प्रस्थान करते हैं तो भारत के युगयुगीन राजाओं की भाँति ही भारतवर्ष के अन्य सभी महान् राजा उनके पीछे-पीछे चलते दिखायी देते हैं, पूर्व,

पश्चिम, उत्तर एवं दक्षिण से आये अठारह महान् राजा अपनी सेनाओं समेत राजा हर्षवर्धन का अनुसरण करते हुए यज्ञभूमि में पहुँचते हैं। और अन्ततः जब राजा हर्षवर्धन का यज्ञ प्रारम्भ होता है तो भारत के आदर्श राजाओं के यज्ञों की भाँति ही समस्त यज्ञभूमि में अन्नपान एवं अन्य बहुमूल्य वस्तुओं के दान की अबाध धारा प्रवाहित हो उठती है, और यह प्रवाह तब तक चलता रहता है जब तक सब उपस्थित जन सर्वथा सन्तुष्ट नहीं हो जाते और राज्य की समस्त सञ्चित सम्पदा संविभाजन के उस प्रवाह में पूर्णतः निःशेष नहीं हो जाती।

भारतीय इतिहास के महान् राजा भारत के कालातीत साहित्य में प्रतिपादित एवं भारत के युगयुगीन आदर्श राजाओं द्वारा सेवित संविभाजन के अनुशासन का इस गहनता से अनुसरण करते आये हैं। यहाँ यह कदाचित् उल्लेखनीय ही है कि राजा हर्षवर्धन के दानसत्र का उपरोक्त वृत्तान्त, जो निश्चय ही महाभारत अथवा रामायण के किसी यज्ञ के वृत्तान्त जैसा ही है, एक चीनी बौद्ध विद्वान् के संस्मरणों से आया है। वह चीनी विद्वान् बौद्ध धर्म में ऐसा निष्णात था कि उसके शिष्य उसे धर्माचार्य के नाम से ही सम्बोधित करते थे, और अपने धर्म के प्रति वह इतना निष्ठावान् था कि भारत के बौद्धेतर लोगों को वह विधर्मियों एवं अपधर्मियों की श्रेणी में रखता था। ऐसे विदेशी एवं निष्ठावान् बौद्धाचार्य का राजा हर्षवर्धन के दानपर्व का ऐसा वर्णन भारतवर्ष में संविभाजन के अनुशासन की सर्वथा अनुल्लङ्घनीयता का ही प्रमाण है।

तञ्जावूर के छत्र

भारतीय इतिहास के राजा और भारत के लोग अर्वाचीन काल तक संविभाजन के अनुशासन का पालन करते रहे हैं। अठारहवीं शती के अन्तिम दशकों से ही भारत पर तब सद्य-आरोपित परकीय राज्य के ब्रितानी प्रशासकों के वृत्तान्तों में भारतवर्ष में प्रचलित आतिथ्य एवं संविभाजन की संस्थाओं का वर्णन पुनः पुनः होने लगता है। उस समय के ब्रितानी प्रलेखों में भारतवर्ष के प्रायः सभी भागों से ऐसी संस्थाओं के वृत्तान्त मिलते हैं। उत्तर में केदारनाथ, पश्चिम में जयपुर एवं उदयपुर, पूर्व में पुरी और दक्षिण में रामेश्वरम् एवं तञ्जावूर में आतिथ्य एवं संविभाजन की विभिन्न संस्थाओं के प्रचलन के विषय में ब्रितानी प्रशासकों के विस्तृत प्रलेख उपलब्ध हैं। ब्रितानी प्रशासक इन संस्थाओं को लेकर विशेषतः चिन्तित दिखायी देते हैं। अपने प्रशासन के प्रारम्भिक दशकों में वे पाते हैं कि भारत की सार्वजनिक आय का बड़ा अंश तो अतिथ्य एवं संविभाजन की इन संस्थाओं को चलाने एवं अन्य अनेक सार्वजनिक कार्यों के वहन के लिये प्राचीन काल से ही अभ्यर्पित किया जा चुका है। ब्रितानी प्रशासक इन समस्त अभ्यर्पणों का नये ब्रितानी राज्य

के पक्ष में अधिग्रहण करने और सामान्यतः सार्वजनिक कार्यों पर होने वाले सब प्रकार के व्यय को सीमित करने के प्रति अत्यन्त उद्यमशील रहे। ब्रितानी प्रशासन के राजस्व को जैसे कैसे बढ़ाते जाने के अभियान में रत वे प्रशासक कई दशकों तक भारत की पारम्परिक आतिथ्य एवं संविभाजन की संस्थाओं एवं अन्य समस्त सार्वजनिक व्यवस्थाओं को खण्डित करने का सतत प्रयास करते रहे और अपने इन प्रयासों के लेखे-जोखे में वे भारतीय सार्वजनिक नीति की इन सहज संस्थाओं एवं व्यवस्थाओं का विशद वृत्तान्त छोड़ गये।

उस काल का एक सजीव वृत्तान्त धुर दक्षिण के तञ्जावूर राज्य से सम्बन्ध रखता है। तञ्जावूर राज्य के तटीय क्षेत्र की अधिकतर भूमि का राजस्व तब वहाँ के अनेक मठों एवं छत्रों के पक्ष में अभ्यर्पित था। इन छत्रों एवं मठों में यात्रियों एवं अन्य याचकों को आश्रय एवं अन्न दिया जाता था, और मठ तो विभिन्न विषयों में विशेषतः उच्च विद्वत्ता के केन्द्र भी हुआ करते थे। तञ्जावूर राज्य के छत्रों का प्रबन्ध राजकीय कुटुम्ब की रानियों के हाथों में था और छत्रों से सम्बन्धित भूमि पर भी रानियों का ही अधिकार माना जाता था। तञ्जावूर राज्य १७९९ ईस्वी में ब्रितानी प्रशासन के अधीन आ गया और ब्रितानी प्रशासकों ने तुरन्त विभिन्न सार्वजनिक व्यवस्थाओं के लिये अभ्यर्पित भूमि एवं राजस्व के आकलन एवं अधिग्रहण के प्रयास प्रारम्भ कर दिये। इसी क्रम में छत्रों के कार्यनिर्वाह के लिये रानियों के अधिकार में दी गयी तटीय भूमि के विषय में एक विस्तृत जाँच प्रारम्भ की गयी। इस सन्दर्भ में ब्रितानी प्रशासकों की पूछताछ के उत्तर में उस समय तञ्जावूर राज्य के सम्राट राजा सरफोजी महाराज ने तञ्जावूर सभा में आरोपित ब्रितानी 'रेसीडेंट' के नाम एक पत्र लिखकर ब्रितानी प्रशासकों को छत्रों के कामकाज एवं सहज भारतीय व्यवस्था में इन संस्थाओं के महत्त्व से अवगत कराने का प्रयास किया। १८०१ ईसवी में लिखा गया यह पत्र अपने समय का एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण प्रलेख है। तञ्जावूर राज्य के छत्रों और उनके प्रति तञ्जावूर के राजाओं की नीति का सजीव चित्रण करते हुए राजा सरफोजी महाराज इस पत्र में लिखते हैं कि [६] –

''सार्वजनिक पुण्य कार्यों के लिये विभिन्न व्यक्तियों को सर्वमान्यम् अथवा श्रोत्रियम् के रूप में जो भूमि अभ्यर्पित की गयी है उसके लिये मेरे प्रथम पूर्वज के समय से ही राजकीय मुद्रा के

[६] तञ्जावूर के सम्राट राजा सरफोजी का तञ्जावूर के रेसीडेंट बी. टोरिन के नाम पत्र, दिनाङ्क २०.१.१८०१, तमिलनाडु राज्य अभिलेखागार, *प्रोसीडिङ्ग्स आफ द बोर्ड आफ रिवेन्यु*, २.२.१८०१, खण्ड २७१ सी, पृ.११५५-५७। इस अभिलेख में राजा सरफोजी महाराज के पत्र का अङ्ग्रेजी अनुवाद उपलब्ध है। यहाँ हम उस अङ्ग्रेजी अभिलेख का हिन्दी रूपान्तर दे रहे हैं। इस अभिलेख और अठारहवीं शती के भारत सम्बन्धी अन्य ऐतिहासिक सामग्री की ओर हमारा ध्यान आकृष्ट करवाने के लिये हम श्रीधर्मपाल के आभारी हैं।

साथ नियमित आज्ञापत्र दिये जाते रहे हैं। परन्तु राजपरिवार की रानियों को अभ्यर्पित छत्रों अथवा पुण्य कार्यों के लिये उन्हें दी गयी अन्य राशियों के लिये कभी कोई आज्ञापत्र नहीं लिखे गये। ऐसा कदाचित् इसलिये हुआ कि अपने समय के सभी राजाओं को पूर्ण विश्वास था कि उनका या उनके पुत्रों एवं अन्य वंशजों का कोई मन्त्री कभी पुण्य कार्यों के हेतु रानियों के अधिकार में दी गयी भूमि के लिये लिखित आज्ञापत्र दिखाये जाने की माँग नहीं करेगा। अतः रानियों का यह अधिकार सर्वदा मात्र 'परवानगी' से ही चलता आया है।

''सार्वजनिक पुण्य कार्यों में रत ये संस्थाएँ अधिकतर समुद्रतट के आसपास के क्षेत्र में स्थित हैं, और इस क्षेत्र की भूमि अत्यन्त निम्न श्रेणी की है। रामेश्वरम् का मार्ग भी इसी क्षेत्र में पड़ता है और भारत के सभी भागों से, बनारस, अवध, देहली, औरङ्गाबाद और पूना से चालीस सहस्र यात्री प्रति वर्ष इस मार्ग पर आते-जाते हैं। छत्रों की स्थापना मुख्यतः इन यात्रियों की सुविधा के लिये ही की गयी है। प्रत्येक छत्र के साथ मन्दिर, धर्मशालाएँ और पाठशालाएँ बनायी गयी हैं। यहाँ मैं आपको इन छत्रों से प्रवाहित होने वाले पुण्य कार्यों के स्वरूप एवं विस्तार से अवगत करवा दूं – यहाँ आने वाले सब यात्री, ब्राह्मण से लेकर परया (हरिजन) तक सब जातियों के, और जोगी, जङ्गम, अतीत, बैरागी आदि विभिन्न रूपों में आने वाले सब लोग, यहाँ पहुँचने पर पके चावल का भोजन पाते हैं। उनमें से जो पका अन्न ग्रहण नहीं करते उन्हें विभिन्न आवश्यक द्रव्यों समेत कच्चा चावल दिया जाता है। पके एवं कच्चे अन्न का यह वितरण आधी रात तक चलता रहता है और तब घण्टी बजाकर घोषणा की जाती है कि जिस किसी को तब तक भोजन प्राप्त न हुआ हो वह आकर अपने भाग का अन्न ले जाये।

''जो यात्री किसी कारणवश अपनी यात्रा पर आगे जाने में असमर्थ हो, उन्हें जब तक वे छत्र में रहें, तब तक भोजन मिलता रहता है।

''प्रत्येक छत्र में चार वेदों के अध्यापन के लिये एक-एक आचार्य, एक सामान्य शिक्षक और विभिन्न रोगों, सब प्रकार के शोथ एवं सांप-बिच्छु आदि के विष की चिकित्सा करने में दक्ष वैद्य नियुक्त किये गये हैं। अनजान लोगों के भी जो अनाथ बच्चे छत्र में आ पहुँचते हैं उन सब को शिक्षक की देखभाल में रखा जाता है, उन्हें दिन में तीन समय भोजन दिया जाता है और प्रति चौथे दिन उनका तेल से अभ्यञ्जन होता है, आवश्यकता पड़ने पर उन्हें औषधि एवं समय-समय पर वस्त्र उपलब्ध करवाये जाते हैं, और उनकी सब प्रकार से समुचित देखभाल करने के सब प्रयास किये जाते हैं। जिस किसी विद्या में उनकी रुचि हो उन्हें उसी विद्या में शिक्षा दिलवायी जाती है, और जब वे अपनी रुचि के विषय में पारङ्गत हो जाते हैं तो उनके विवाह का व्यय छत्र उठाता है।

Centre for Policy Studies www.cpsindia.org

''छत्र में पहुँचकर अथवा उससे पूर्व भी जो यात्री अस्वस्थ हो जाते हैं उनके लिये औषध एवं समुचित अन्नपान का प्रबन्ध किया जाता है और स्वस्थ होने तक उनकी सम्मान एवं स्नेह पूर्वक सेवा-शुश्रूषा की जाती है।

''जो यात्री छत्र में अपने निवास की अवधि में प्राण त्याग बैठते हैं उनके अन्तिम संस्कार का प्रबन्ध उनकी जाति की रीति-नीति के अनुरूप सम्पन्न करने की व्यवस्था की जाती है।

''शिशुओं के लिये दूध दिया जाता है। गर्भवती महिलाओं की विशेष स्नेहपूर्वक देखभाल की जाती है और उन में से जिनका गर्भ छत्र में रहते हुए पूर्ण हो जाता है, उनके प्रसव का व्यय छत्र उठाता है। उनके लिये समुचित औषधियाँ उपलब्ध करवायी जाती हैं और प्रसव के पश्चात् तीन महीने तक उन्हें छत्र में ही रहने की अनुमति दी जाती है।

''जो लोग छत्र से आवेदन कर उपनयन, विवाह अथवा पिता की मृत्यु के उपरान्त किये जाने वाले विभिन्न संस्कारों के सम्पादन में अपनी असमर्थता प्रकट करते हैं, उन्हें अवसर के अनुरूप समुचित धन दिया जाता है।

''क्योंकि इन छत्रों के लिये अभ्यर्पित भूमि प्रायः अत्यन्त निम्न स्तर की है, अतः ऐसे अनेक अवसर आते हैं जब वर्षा के अभाव से इस भूमि पर छत्र के व्यय के वहन के लिये पर्याप्त उत्पादन नहीं हो पाता। ऐसे अवसरों पर इन छत्रों से होने वाले महान् पुण्य कार्य में किसी प्रकार का कोई ह्रास न होने देने के प्रति अत्यन्त सचेत रहते हुए मैं उनके घाटे की पूर्ति के लिये राजकीय कोष से पर्याप्त धन भेजता रहता हूँ। इन छत्रों से होने वाले पुण्य कार्य को मैं अपनी राजकीय प्रतिष्ठा से सम्बन्धित उच्चतम गौरव का विषय मानता हूँ। मिस्टर हैरिस को स्मरण होगा कि जब उन्हें 'सूबे' के प्रबन्ध के लिये नियुक्त किया गया था तब विभिन्न अवसरों पर मैं उनसे छत्रों के उपयोग के लिये भारी मात्रा में धान की माँग करने को विवश हुआ था।

'' इन छत्रों की स्थापना कोई आजकल में नहीं की गयी। मेरे पूर्वज प्रतापसिंह ने चालीस वर्ष से भी पूर्व मणमेरकुडी के छत्र एवं कुछ अन्य छत्रों की स्थापना की थी और वे सब छत्र तब से लेकर निरन्तर आश्रय एवं अशन आदि का वितरण करते चले आ रहे हैं। मेरे पिता स्वर्गवासी तुलजाजी राजा ने पच्चीस-तीस वर्ष पूर्व मीनमेसल, सुलक्षणाम्बालपुरम् और राजामठम् के छत्रों की स्थापना की। अमरसिंह के राज्यकाल में किसी छत्र की स्थापना नहीं हुई और न ही मेरे राज्यसिंहासन पर आरूढ होने के पश्चात् कोई नया छत्र बना है। परन्तु चाहे इन छत्रों का प्रारम्भ मुझसे नहीं हुआ तो भी मैं इनको अपने घर का ही अङ्ग मानता हूँ, और मेरे विचार में ये छत्र मेरी गरिमा एवं मेरी प्रसन्नता को बनाये रखने के लिये आवश्यक हैं। तञ्जावूर राज्य अपने दान-पुण्य के लिये जगत् में प्रसिद्ध है। इसे धर्मराज्य के नाम से जाना जाता है, और इस नाम के माध्यम

से समस्त राज्यों में मुझे जो विशेष सम्मान प्राप्त होता है उसे मैं अपने पद का सब से उच्च गौरव मानता हूँ। मेरे पूर्वजों और मेरे पिता तुलजाजी राजा ने दान-पुण्य के इन कार्यों के लिये जो राजस्व अभ्यर्पित किया है उसे कभी भी राज्य के सकल राजस्व में नहीं गिना गया। मेरे पूर्वज सदा इन दान-पुण्य की संस्थाओं का सम्मान एवं समर्थन करते रहे हैं, मेरी यह हार्दिक इच्छा है कि मैं भी ऐसा ही करता रहूँ। इन संस्थाओं का प्रबन्ध सर्वदा वरिष्ठ रानी से कनिष्ठ रानी को हस्तान्तरित होता आया है। राजमाता अपनी मृत्यु पर्यन्त इनके प्रबन्ध को देखती हैं और उनकी मृत्यु के उपरान्त यह उत्तरदायित्व उस समय के राजा की पत्नी पर आता है। मुझे पूर्ण विश्वास है कि मेरे पूर्वजों के समय से रूढ इस नियम का उल्लङ्घन नहीं किया जायेगा और मुझे अपने राज्यकाल में इस नियम का अतिक्रमण होते देखने का अपमान नहीं झेलना पड़ेगा।

''प्रतापसिंह एवं तुलजाजी राजा ने कोट के विजित होने से पूर्व जो 'परवानगियाँ' दी थीं, उन्हें ढूँढ पाना अब सम्भव नहीं है। कोट के गिरने के पश्चात् नवाब ने राजप्रासाद में लूटपाट मचायी और 'दफ्तर' में उपलब्ध सभी प्रलेख वह उठा ले गया। अतः अब उस तिथि से पहले का कोई प्रलेख शेष नहीं बचा। कोट के पुनःस्थापन के पश्चात् स्वर्गवासी तुलजाजी राजा ने प्राचीन काल से चली आ रही दान-पुण्य की समस्त संस्थाओं के लिये और उनके अपने समय में स्थापित ऐसी संस्थाओं के लिये भी नयी 'परवानगियाँ' प्रदान कीं। वे 'परवानगियाँ' अब मेरे पास उपलब्ध हैं।

''सेतुबावा छत्र के लिये भी नियमित अधिकार पत्र उपलब्ध है।

''इस से अधिक मैं और क्या लिखूँ।''[७]

चीनी बौद्ध विद्वान् हुयेन-त्साङ्ग का राजा हर्षवर्धन के यज्ञ का वृत्तान्त पढ़ चुकने के उपरान्त अब इस बात पर तो कदाचित् कोई आश्चर्य नहीं होना चाहिये कि तञ्जावूर के राजा सरफोजी महाराजा के इस पत्र की मुख्य भावना ही नहीं, अपितु इसके शब्द एवं शैली भी इतिहास-पुराण से सम्बन्धित दिखती है। इस पत्र में राजा सरफोजी की अङ्ग्रेजों के समक्ष विवशता एवं किञ्चित् दीनता का जो आभास उभरता है वह भी राजा युधिष्ठिर के वनवास के उन प्राथमिक दिनों का

[७] सेतुबावा छत्र और अन्य जिन चार छत्रों का नाम इस पत्र में आया है वे सब पट्टुकोट्टै से रामेश्वरम् जाने वाले राजमार्ग पर स्थित हैं। इन पाँचों को इस राजमार्ग पर आज भी पहचाना जा सकता है, परन्तु इन से जुड़े भवनों के अब मात्र अवशेष ही बचे हैं। अभिलेखागार में उपलब्ध तञ्जावूर के राजा के पत्र के अङ्ग्रेजी अनुवाद में इन छत्रों के किञ्चित् विकृत्-से नाम दिये गये हैं। हिन्दी रूपान्तर करते हुए हमने इनके आज प्रचलित नामों का ही उल्लेख किया है।

Centre for Policy Studies www.cpsindia.org

ही स्मरण कराता है जब वे राजसी बल-वैभव को तो सहजता से ही त्याग आते हैं, परन्तु अन्यों का भरण-पोषण करने के राजसुलभ गौरव को छोड़ने के लिये अपने-आप को कदापि तत्पर नहीं कर पाते।

भारत के कालातीत आदर्श राजाओं की ही भाँति तञ्जावूर के राजा के लिये भी राज्य में स्थित दान-पुण्य की संस्थाएँ उनके सहज गार्हस्थ्य उत्तरदायित्व का ही अङ्ग हैं। वे कहते हैं कि इन संस्थाओं को मैं 'अपने घर का ही अङ्ग मानता हूँ और मेरे विचार में ये छत्र मेरी गरिमा एवं मेरी प्रसन्नता को बनाये रखने के लिये आवश्यक हैं।' और इससे पहले वे अङ्ग्रेजों को बताते हैं कि जब वर्षा के अभाव से छत्रों से जुड़ी भूमि पर छत्रों के व्यय के वहन के लिये पर्याप्त उत्पादन नहीं हो पाता तब 'ऐसे अवसरों पर इन छत्रों से होने वाले महान् पुण्य कार्य में किसी प्रकार का कोई ह्रास न होने देने के प्रति अत्यन्त सचेत रहते हुए मैं उनके घाटे की पूर्ति के लिये राजकीय कोष से पर्याप्त धन एवं धान्य भेजता रहता हूँ। इन छत्रों से होने वाले पुण्य कार्य को मैं अपनी राजकीय प्रतिष्ठा से सम्बन्धित उच्चतम गौरव का विषय मानता हूँ।' वस्तुतः भारत के कालातीत राजाओं की ही भाँति तञ्जावूर के राजा का मानना है कि दान-पुण्य की विभिन्न संस्थाओं को चलाना ही प्रमुख धर्मकार्य है। इन संस्थाओं के होने से ही कोई राज्य धर्मराज्य कहलाने का अधिकारी होता है और धर्मराज्य का राजा होने से ऊँचा गौरव तो और कोई नहीं होता। अपनी इन मान्यताओं को स्पष्ट करते हुए राजा सरफोजी लिखते हैं कि 'तञ्जावूर राज्य अपने दान-पुण्य के लिये जगत् में प्रसिद्ध है। इसे धर्मराज्य के नाम से जाना जाता है और इस नाम के माध्यम से समस्त राज्यों में मुझे जो विशेष सम्मान प्राप्त होता है उसे मैं अपने पद का सबसे उच्च गौरव मानता हूँ।' ऐसा प्रतीत होता है कि भारत के युगयुगीन राजाओं की ही भाँति राजा सरफोजी को पूर्ण विश्वास है कि राजा होने का गौरव, सम्मान, वैभव एवं आनन्द सब इसी एक तथ्य पर निर्भर हैं कि राजपद पर आसीन हो राजा अन्यों का भरण-पोषण करने का स्वर्णिम अवसर पा जाता है।

छत्रों में आने वालों के भोजन एवं उनकी सेवा-शुश्रूषा के प्रबन्धों का जो वृत्तान्त तञ्जावूर के राजा इस पत्र में प्रस्तुत करते हैं, वह इन्द्रप्रस्थ में राजा युधिष्ठिर के घर आने वालों को प्राप्त होने वाले उस आतिथ्य के ही समान दिखता है जिसका अपने वनवास के दिनों में सत्यभामा के समक्ष वर्णन करते हुए द्रौपदी ऐसी भावप्रवण हो उठती हैं, और जब राजा सरफोजी लिखते हैं कि छत्रों में आधी रात के समय घण्टियाँ बजाकर यह घोषणा की जाती थी कि 'जिस किसी को तब तक भोजन प्राप्त न हुआ हो वह आकर अपने भाग का अन्न ले जाये', तब राजा युधिष्ठिर के उस महान् राजसूय यज्ञ का स्मरण सहज ही हो आता है जिसमें निरन्तर पङ्क्तें बैठती चली

जाती थीं और एक लाख की एक पङ्गत के उठने पर होने वाला दुन्दुभिवादन जहाँ निरन्तर होता चला जा रहा था।

तञ्जावूर के राजा सरफोजी महाराज का यह पत्र जनवरी १८०१ का है। आज से मात्र दो सौ वर्ष पहले तक भारतवर्ष के शासक इस प्रकार सोचा-लिखा करते थे!

चेङ्गलपेट्: संविभाजन पर आधारित समाज

तञ्जावूर के राजा अपने राज्य में व्याप्त छत्रों एवं मठों आदि को बचाने का प्रायः अन्तिम प्रयास कर रहे थे। परन्तु उनके काल के भारत में संविभाजन के सिद्धान्त की अभिव्यक्ति आतिथ्य एवं दान-पुण्य की इन संस्थाओं मात्र में नहीं हुई थी, उस समय की तो सम्पूर्ण समाजव्यवस्था ही संविभाजन के सिद्धान्त के आधार पर ही रची गयी थी और अङ्ग्रेजों के शासन में वह सम्पूर्ण व्यवस्था ही शीघ्र खण्डित होने जा रही थी। ऐसा प्रतीत होता है कि अठारहवीं शती तक भारत की राजनैतिक, आर्थिक एवं नैतिक व्यवस्था का मूल मन्त्र मात्र एक ही था – भूमि से बहुमात्रा में अन्न प्राप्त किया जाये और उस अन्न का ऐसा उदार एवं विस्तृत संविभाजन हो कि ग्राम के समस्त परिवारों का और ग्राम एवं क्षेत्र के सार्वजनिक कार्यों से सम्बन्धित समस्त संस्थाओं का निर्वाह सौलभ्य एवं मान-मर्यादा के साथ होता रहे।

अङ्ग्रेजों के यहाँ आने से पूर्व तमिलनाडु के मद्रास नगर के आसपास के क्षेत्र में संविभाजन पर आधारित यह सहज भारतीय व्यवस्था किस प्रकार चलती थी, इस विषय में पर्याप्त विशद एवं विस्तृत जानकारी उपलब्ध है। मद्रास के आसपास के इस क्षेत्र का प्रारम्भिक ब्रितानी प्रलेखों में 'जागीर' के नाम से उल्लेख हुआ है, अङ्ग्रेजों ने अपने पिछलग्गू आर्काट के नवाब से यह क्षेत्र अपनी जागीर के रूप में ही ले लिया था। कुछ दशक पश्चात् मुख्यतः इसी क्षेत्र को लेकर चेङ्गलपेट् जिले का गठन किया गया। यह चेङ्गलपेट् क्षेत्र अङ्ग्रेजों के सीधे प्रशासन के अधीन आने वाले भारतवर्ष के प्रथम क्षेत्रों में से एक है। उस समय तक अङ्ग्रेज प्रशासक भारत की पारम्परिक व्यवस्थाओं के विषय में कुछ विशेष नहीं जान पाये थे। अतः चेङ्गलपेट् क्षेत्र में अपना नया प्रशासनतन्त्र स्थापित करने से पूर्व उन्होंने यहाँ पहले से ही व्याप्त व्यवस्थाओं को जानने-समझने का सघन प्रयास किया। इस उद्देश्य से इस क्षेत्र के प्रायः २००० ग्रामों में वहाँ के सार्वजनिक जीवन के सभी पक्षों का विस्तृत सर्वेक्षण किया गया। यह सर्वेक्षण १७६७ से १७७४ ईसवी तक सात वर्षों में पूरा हुआ। इस सर्वेक्षण के ताड़पत्रों पर लिखित मूल तमिल विवरण और उन मूल विवरणों के अङ्ग्रेजी सार-सङ्क्षेप दोनों दैववश उपलब्ध हैं। इन तमिल ताड़पत्रों एवं

अङ्ग्रेजी अभिलेखों से उस समय के भारत में व्याप्त संविभाग पर आधारित राजनैतिक, सामाजिक एवं आर्थिक व्यवस्थाओं का एक अद्भुत चित्र उभरकर आता है। भारत की सहज संविभागनिष्ठ सार्वजनिक व्यवस्थाओं के इस विशद चित्र के कुछ पक्षों का अवलोकन हम नीचे करेंगे।[८]

ऐसा प्रतीत होता है कि खेतों में अनाज की कटाई-गहाई के साथ ही इस क्षेत्र के ग्रामों में संविभाजन का एक विस्तृत क्रम प्रारम्भ हो जाता था। सर्वेक्षण के प्रलेखों में प्रायः एक सौ ऐसी संस्थाओं एवं सेवाओं का उल्लेख आता है जिनके लिये विभिन्न ग्रामों की उपज में से भाग निकलता था। किसी माध्य ग्राम की उपज में प्रायः तीस ऐसी सार्वजनिक संस्थाओं एवं सेवाओं का भाग तो हुआ ही करता था। इस वृहत् संविभाजन के क्रम में मन्दिर, मठ, छत्र, विभिन्न विषयों के विद्वान्, पाठशालाओं के शिक्षक और वैद्य, सङ्गीतकार एवं नर्तक आदि तो अपना-अपना भाग पाते ही थे, साथ ही सिञ्चाई एवं अनाज की तुलाई आदि जैसी आर्थिक सेवाओं के लिये और ग्राम का बही-खाता रखने एवं बाह्य अथवा आन्तरिक उत्पातों से ग्राम की रक्षा करने जैसे प्रशासनिक कार्यों के लिये भी समुचित भाग निकाल लिया जाता था। किसी ग्राम की उपज में इस प्रकार भाग पाने वाली संस्थाओं एवं सेवाओं में से कुछ तो मात्र उसी ग्राम से ही सम्बन्ध रखती थीं, जैसे ग्राम के स्थानीय मन्दिर की अथवा ग्राम के धोबी अथवा नापित की सेवाएँ तो ग्राम तक या अधिक-से-अधिक आस पड़ोस के दो-चार ग्रामों तक ही सीमित होती थीं। इन स्थानीय संस्थाओं एवं सेवाओं का भाग भी अपने ग्राम की उपज में ही होता था। दूसरी ओर क्षेत्र के बड़े वैभवशाली मन्दिरों, उच्च विद्वानों, अपनी कला में विलक्षण दक्षता रखने वाले कलाविदों और बड़े-बड़े सेनानायकों आदि का कार्यक्षेत्र निश्चय ही किसी एक ग्राम की सीमाओं से कहीं अधिक व्यापक होता था। अनेक ग्रामों की सेवा करने वाली इन संस्थाओं एवं कार्यभारियों का अनेक ग्रामों की उपज में भाग भी होता था, सर्वेक्षण के प्रलेखों के अनुसार इनमें से कुछ तो सैकड़ों ग्रामों की उपज में भाग पाते थे।

संविभाजन की यह प्रक्रिया चार विशिष्ट चरणों में सम्पन्न होती थी। पहला संविभाग कटाई के समय होता था और दूसरा गहाई के पश्चात् परन्तु अनाज की तुलाई के पूर्व किया जाता था।

---

[८] अठारहवीं शती के चेङ्गलपेट् क्षेत्र की सार्वजनिक व्यवस्थओं के विषय में निम्न जानकारी 'समाजनीति समीक्षण केन्द्र, मद्रास' में किए जा रहे शोध पर आधारित है। चेङ्गलपेट् क्षेत्र के अठारहवीं शती के सर्वेक्षण के अङ्ग्रेजी भाषा में लिखे गये सारांश तमिलनाडु राज्य अभिलेखागार, मद्रास में उपलब्ध हैं। सर्वेक्षण के ताड़-पत्रों पर अङ्कित मूल तमिल विवरण तञ्जावूर में स्थित तमिल विश्वविद्यालय के 'ताड़पत्र पाण्डुलिपि विभाग' में सुरक्षित हैं।

इन दो चरणों में निकाले गये भाग को 'स्वतन्त्रम्' की संज्ञा दी गयी थी, और जैसा कि संविभाजन के इस क्रम से स्पष्ट ही है, विभिन्न संस्थाओं और सेवाओं के लिये जो अनाज 'स्वतन्त्रम्' भाग के रूप में निकाला जाता था उसकी ग्राम के उत्पादन में गिनती ही नहीं होती थी। कटाई के समय संविभाजन के पूर्वनिश्चित नियमों के अनुरूप एक निश्चित संख्या में गट्ठरों के कटने के उपरान्त अगला गट्ठर 'स्वतन्त्रम्' भाग के लिये पृथक् कर दिया जाता था। इसी प्रकार अनाज की तुलाई के समय प्रत्येक 'कलम्' भर अनाज मापने के पश्चात् कुछ निश्चित 'मरक्काल्' एवं 'पडि' भर अनाज 'स्वतन्त्रम्' भाग के रूप में निकाल दिय जाता था।[९] इस प्रकार 'स्वतन्त्रम्' भाग निकालने के उपरान्त बचा शेष अनाज ही वस्तुतः माप में आता था।

तीसरा एवं चौथा संविभाजन मापे गये उत्पादन में से होता था। तीसरा भाग मापे गये सकल उत्पादन से निकलता था और चौथा उपज के केवल राजस्व अंश में से। इन दो चरणों पर निकाले गये भाग 'मैरै' कहलाते थे। विभिन्न संस्थाओं एवं कार्यभारियों के लिये निकाले गये ये 'स्वतन्त्रम्' और 'मैरै' भाग ग्राम की व्यवस्था में उन संस्थाओं एवं कार्यभारियों के भिन्न-भिन्न प्रकार के अधिकारों को स्थापित करते थे। 'स्वतन्त्रम्' भाग प्रायः ग्राम की 'अपनी' संस्थाओं और 'अपने' कार्यभारियों के लिये ही निकलता था, और 'मैरै' भाग उन संस्थाओं और कार्यभारियों के लिये निकलता था जिनका कार्यक्षेत्र ग्राम की सीमाओं से परे किसी बड़े क्षेत्र तक व्याप्त होता था। इस प्रकार क्षेत्र के बड़े मन्दिर, ऊँचे विद्वान्, क्षेत्रीय स्तर के प्रशासनिक कार्यभारी और क्षेत्र की राजनैतिक सत्ता के वाहक जन अपनी सेवाओं से लाभान्वित होने वाले ग्रामों की उपज में 'मैरै' भाग ही पाते थे। ग्राम का स्थानीय मन्दिर और ग्राम ज्योतिषी, शिक्षक, वैद्य, नापित एवं धोबी आदि अपने ग्राम की उपज में से 'स्वतन्त्रम्' भाग के अधिकारी होते थे। ग्राम के स्थानीय प्रशासनिक एवं राजनैतिक कार्यभारी प्रायः दोनों भाग पाया करते थे। इस प्रकार ग्राम का बही-खाता रखने वाला 'कनक्कपिल्लै', ग्राम की सुरक्षा टुकड़ियों का नायक 'पालयक्कारर्' और गाँव के प्रमुख गृहस्थ 'काणियाच्चिकारर्' आदि ग्राम की उपज में 'स्वतन्त्रम्' और 'मैरै' दोनों भागों के अधिकारी हुआ करते थे।

---

[९] इस क्षेत्र में अनाज तोला नहीं अपितु सुनिश्चित आकार एवं आयतन के डिब्बों में मापा जाता था। माप की मूल इकाई 'पडि' थी, आठ 'पडियों' का एक 'मरक्काल्' बनता था और १२ 'मरक्काल्' की एक 'कलम्'। तमिल किसानों के घरों और इस क्षेत्र के मन्दिरों में मानक 'पडि', 'मरक्काल्' एवं 'कलम्' के आकार एवं आयतन के डिब्बे अभी भी मिल जाते हैं। चेङ्गलपेट् क्षेत्र की 'पडि' में १.३ किलोग्राम के आसपास धान आता था। अतः 'कलम्' का माप १२५ किलोग्राम धान के आसपास बैठता था। इस सन्दर्भ में देखिये, *टेबलस आफ वेटस एण्ड मेजर्स एण्ड क. एण्ड करेक्ट बैट्टी टेबलस मेड यूस आफ एट द डिफरेंट पोर्टस आफ ईस्ट इण्डीस*, लन्दन १७७८, और *मद्रास अलमानाक*, मद्रास १७९५।

Centre for Policy Studies www.cpsindia.org

संविभाजन के इस वृहद् एवं अत्यन्त सुनिश्चित क्रम में विभिन्न संस्थाओं एवं सेवाओं के लिये जो भाग निकलता था वह किसी प्राचीन विधान की मात्र औपचारिक अथवा साङ्केतिक पूर्ति जैसा नहीं हुआ करता था। साधारणतः किसी ग्राम की उपज का प्रायः ३० प्रतिशत अंश संविभाग के विभिन्न चरणों में निकल जाता था और इस संविभाग से विभिन्न संस्थाओं और सेवाओं के भाग में उपज का जो अंश आता था वह उन संस्थाओं एवं सेवाओं के समुचित प्रबन्ध एवं वहन के लिये वाञ्छित साधनों के अनुरूप ही होता था। संविभाग की यह प्रक्रिया वस्तुतः किसी आधुनिक राज्य की 'बजट' - निर्धारण की प्रक्रिया के समकक्ष ही दिखायी देती है। इस वृहत् संविभाग के माध्यम से प्रत्येक ग्राम अपने सहज सार्वजनिक जीवन के वहन के लिये आवश्यक संस्थाओं एवं सेवाओं के लिये समुचित साधनों का नियोजन करता था और साथ ही ग्राम की सीमाओं से परे के बड़े क्षेत्र तक व्याप्त वृहत्तर व्यवस्थाओं के वहन में अपना अंशदान भी जोड़ता था। परन्तु संविभाजन के माध्यम से 'बजट' - निर्धारण की यह विलक्षण-सी दिखती प्रक्रिया निश्चय ही एक विशिष्ट प्रकार के तन्त्र को परिभाषित करती है। सार्वजनिक जीवन के विभिन्न पक्षों को व्यवस्थित करने के इस विशिष्ट भारतीय तन्त्र में ग्राम अपने-आप में एक स्वतन्त्र राज्य-सा ही दिखता है, यह ग्रामराज्य स्वयं अपने ही उद्यम से अपनी सहज रीति-नीति और सुदीर्घ काल से प्रतिष्ठित अपनी ही व्यवस्थाओं के आधार पर अपने सांस्कृतिक, राजनैतिक, आर्थिक एवं प्रशासनिक कार्यों का प्रबन्ध करता है, और अपनी उपज में से इन सब सार्वजनिक कार्यों के लिये समुचित साधनों का नियोजन करता है। अपने भीतर की सभी व्यवस्थाओं का स्वयं संयोजन करने वाला यह ग्रामराज्य अपनी सीमाओं से परे तक व्याप्त क्षेत्रीय व्यवस्थाओं के लिये भी समुचित भाग निकाल कर उन वृहत्तर व्यवस्थाओं का भी संयोजक एवं भर्ता हो जाता है। इस प्रकार इस सहज भारतीय तन्त्र में ग्रामराज्य वृहत्तर सार्वजनिक तन्त्र की मूल इकाई ही नहीं होता, वह उस वृहत् तन्त्र का कर्ता ही है। इस तन्त्र में ग्रामराज्य से ही वृहत्तर राज्य परिभाषित होता है और ग्रामराज्य से ही वह वृहत्तर राज्य संरक्षण एवं भरण पाता है।

ग्राम की उपज में से विभिन्न संस्थाओं एवं सेवाओं का भाग निकालने के अतिरिक्त अठारहवीं शती के चेङ्गलपेट् में संविभाजन की एक अन्य प्रक्रिया भी प्रचलित थी। उपज में भाग पाने वाली संस्थाओं और कार्यभारियों में से कुछ ग्राम की जोत के कुछ विशिष्ट भागों का राजस्व पाने के भी अधिकारी होते थे। भूमि के राजस्व अधिकार के संविभाजन की इस व्यवस्था को 'मान्यम्' कहा जाता था। अठारहवीं शती के चेङ्गलपेट् की प्रायः एक चौथाई भूमि 'मान्यम्' के रूप में संविभाजित थी। परन्तु जैसा कि हम देख चुके हैं उस समय खेती की उपज का प्रायः एक-तिहाई भाग ग्राम-समाज के विभिन्न सार्वजनिक कार्यों के लिये निकाल लिया जाता था।

उन सब कार्यों का प्रबन्ध करने और उनके लिये उपज का एक-तिहाई भाग नियुक्त करने के उपरान्त अन्य किसी राजस्व अंश का कोई विशेष महत्त्व नहीं रह जाता, और ऐसा मानने के पर्याप्त प्रमाण हैं कि सहज भारतीय राज्य व्यवस्था में भूमि की उपज में राजस्व का अंश क्षुद्र ही हुआ करता था। ऐसा प्रतीत होता है कि भूमि के कुछ भाग को 'मान्यम्' में पाने वालों के लिये इस अधिकार का आर्थिक महत्त्व प्रायः नगण्य ही था। 'स्वतन्त्रम्' एवं 'मैरै' के रूप में मिलने वाले उपज के भागांश इस दृष्टि से कहीं अधिक महत्त्वपूर्ण दिखते हैं।

'मान्यम्' की व्यवस्था से कदाचित् एक सर्वथा अन्य ही प्रकार के संविभाग का सम्पादन होता था। भूमि के राजस्व में भाग रखने का अर्थ तो राज्य की सम्प्रभुता में भाग पाना ही होता है। और राज्य-समाज की सम्प्रभुता को अनेक स्तरों एवं अनेक कुल-परिवारों में संविभाजित किये रखना आदर्श भारतीय राज्यव्यवस्था में सर्वदा अभीष्ट माना गया है। भारत में सदा से यह माना जाता रहा है कि जब रामराज्य की स्थापना होती है तब राज्य की सम्प्रभुता में भाग रखने वाले 'राजकुल' शतगुण संवृद्ध हो जाते हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि 'मान्यम्' व्यवस्था के माध्यम से अठारहवीं शती के चेङ्गलपेट् में अनेक संस्थाएँ एवं अनेक परिवार क्षेत्र की सम्प्रभु सत्ता में भाग रखने के अधिकारी हो गये थे।

उपज एवं राजस्व के अधिकार के इस वृहत् संविभाग में किसानों, वणिकों एवं बुनकरों को छोड़कर क्षेत्र के प्रायः सभी परिवारों एवं सभी संस्थाओं का भाग हुआ करता था। किसानों, वणिकों एवं बुनकरों को छोड़कर समाज के सब लोग क्षेत्र की आर्थिकता एवं सम्प्रभुता में अधिकार रखते थे। परन्तु वार्ता के वाहक किसान, वणिक और बुनकर, और विशेषतः किसान तो इस सारे संविभाजन के लिये आवश्यक उत्पादन के कर्ता ही थे। अपने एवं अन्यों के भरण के लिये समुचित उत्पादन करने वाले, अपने व अन्य सब के भर्ता, ये किसान एवं वार्ता के वहन में लगे अन्य परिवार तो अपने-आप में सम्प्रभु थे ही।

उपभोग से पूर्व संविभाग करने के और स्वयं अपना पोषण करने से पूर्व अन्य सब के भरण की व्यवस्था करने के सनातन भारतीय विचार को अठारहवीं शती के चेङ्गलपेट् में इस प्रकार साकार किया गया था। अपनी सहज व्यवस्थाओं के अनुरूप चल रहे तब के भारत में सब के भरण एवं सब की मान-मर्यादा के संरक्षण का ऐसा प्रबन्ध हुआ करता था।

अन्नबाहुल्य

जिस वृहत् संविभाजन का ऊपर वर्णन हुआ है वह किसी ऐसे समाज में ही सम्भव हो सकता है जहाँ संविभाजन की इस उदारता के अनुरूप विपुल मात्रा में अन्न उपजाया जाता हो।

अठारहवीं शती के चेङ्गलपेट् से सम्बन्धित ताड़पत्रों एवं प्रलेखों में कृषि के क्षेत्र में ऐसे अत्यन्त समृद्ध समाज का ही चित्रण हुआ है। इन प्रलेखों में उपलब्ध आँकड़ों के आधार पर चेङ्गलपेट् क्षेत्र की प्रायः २ लाख 'काणि' भूमि पर होने वाले कृषि उत्पादन का पूर्ण विश्वसनीयता के साथ आकलन किया जा सकता है। हमारी गणना है कि १७६७ से १७७४ ईसवी के काल में चेङ्गलपेट् क्षेत्र की इस २ लाख काणि भूमि पर प्रायः २० लाख कलम् अनाज का माध्य वार्षिक उत्पादन होता था। इस उपज में तीन-चौथाई से अधिक अंश धान का था और शेष एक-चौथाई से कुछ अल्प मोटे अनाजों का। इस भूमि की उपज पर कोई ४६ सहस्र कुटुम्ब निर्भर करते थे।

आज प्रचलित परिमाणों के अनुसार एक काणि आधा हेक्टेयर भूमि के तुल्य बैठती है और चेङ्गलपेट् क्षेत्र की कलम् प्रायः १२५ किलोग्राम धान अथवा अन्य अनाजों के तुल्य। अतः उपरोक्त आँकड़ों को आज के परिमाणों में रखा जाये तो अठारहवीं शती के चेङ्गलपेट् में प्रत्येक कुटुम्ब के लिये प्रायः ५.५ टन अनाज का वार्षिक उत्पादन होता दिखायी देता है। आज के समान ही तब भी चेङ्गलपेट् के कुटुम्ब में ४-५ सदस्य ही हुआ करते थे। पाँच सदस्यों के कुटुम्ब के लिये ५.५ टन अनाज की वार्षिक उपज आज के समृद्धतम विश्व के स्तर के तुल्य है। आज के भारत में तो पाँच व्यक्तियों के कुटुम्ब के लिये एक टन अनाज की माध्य वार्षिक उपलब्धि भी कठिनाई से ही हो पाती है।

अठारहवीं शती के चेङ्गलपेट् में भूमि की माध्य उत्पादकता तो बहुत ऊँची नहीं दिखायी देती। कुल २ लाख काणि भूमि पर २० लाख कलम् के उत्पादन का अर्थ है कि तब वहाँ १० कलम् प्रति काणि अथवा २.५ टन प्रति हेक्टेयर की माध्य उपज होती थी। भूमि की उत्पादकता का यह स्तर आज के भारत की माध्य उत्पादकता से तो निश्चय ही ऊपर बैठता है, परन्तु पूर्वकाल में भारत के विभिन्न क्षेत्रों में भूमि की उत्पादकता के जिस उच्च स्तर के प्रमाण मिलते हैं उस की तुलना में तो अठारहवीं शती के चेङ्गलपेट् क्षेत्र की उत्पादकता अल्प ही थी। चेङ्गलपेट् वस्तुतः तटीय क्षेत्र है और यहाँ की भूमि की सहज-स्वाभाविक उर्वरता विशेष नहीं है। अठारहवीं शती में अत्यन्त सावधानी एवं परिश्रम से पानी को सहेजकर क्षेत्र के अनेक छोटे-छोटे खण्डों में उत्कृष्ट उत्पादन कर लिया जाता था, और उन खण्डों की अत्यन्त उच्च उत्पादकता से ही इस अपेक्षाकृत कठिन क्षेत्र का माध्य उत्पादन २.५ टन प्रति हेक्टेयर के स्तर पर पहुँच पाता था।

चेङ्गलपेट् की तुलना में कावेरी नदी से सिञ्चित तञ्जावूर क्षेत्र की सहज उर्वरकता कहीं ऊँची है। तञ्जावूर क्षेत्र के ९००से १२०० ईसवी के शिलालेखों में वहाँ प्रति 'वेलि' भूमि की उपज से १०० कलम् का और कहीं-कहीं तो १२० कलम् तक का राजस्व अंश पाये जाने का उल्लेख हुआ है। तञ्जावूर की एक 'वेलि' चेङ्गलपेट् की ५ काणि और आज के २.५ हेक्टेयर भूमि के

तुल्य होती थी। तञ्जावूर की कलम् चेङ्गलपेट् की कलम् से छोटी हुआ करती थी। सामान्यतः ऐसा माना जाता है कि तञ्जावूर की दो कलमें चेङ्गलपेट् की एक कलम् के तुल्य बैठती थीं। उपरोक्त शिलालेखों का विश्लेषण करते हुए बहुधा इतिहासकार तञ्जावूर में तब प्रचलित राजस्व अंश को कुल उपज के एक-चौथाई के तुल्य मानते हैं। परन्तु भारत के प्रामाणिक धर्मशास्त्रों में उपज के छठे भाग से अधिक राजस्व अंश प्राप्त करने की अनुशंसा नहीं हुई। अतः यह असम्भव ही दिखता है कि तञ्जावूर के राजा अपने शिलालेखों में छठे भाग से अधिक राजस्व अंश पाने का उल्लेख करने का साहस कर पाये हों। अतः जिस भूमि से १०० से १२० कलम् प्रति वेलि तक का राजस्व अंश पाने का उल्लेख इन शिलालेखों में आया है उसकी सकल उपज ६०० से ७२० कलम् प्रति वेलि अथवा १५ से १८ टन प्रति हेक्टेयर रही होगी।[१०]

तञ्जावूर के आसपास के क्षेत्रों से कुछ ऐसे शिलालेख भी प्राप्त हुए हैं जिनमें भूमि से प्राप्त राजस्व अंश का नहीं अपितु भूमि के सकल उत्पादन का ही उल्लेख है। दक्षिण आर्काट के एक ग्राम से सम्बन्धित ११०० ईस्वी के एक शिलालेख के अनुसार उस समय वहाँ भूमि की उपज ५८० कलम् प्रति वेलि अथवा १४.५ टन प्रति हेक्टेयर थी। और रामनाथपुरम् क्षेत्र से सम्बन्धित १३२५ ईस्वी के एक शिलालेख में वहाँ की भूमि पर ८०० कलम् प्रति वेलि अथवा २० टन प्रति हेक्टेयर तक उपज होने का उल्लेख है।[११]

ब्रितानी प्रशासन के प्रारम्भिक काल में अङ्ग्रेज पर्यवेक्षक देश के विभिन्न भागों से तञ्जावूर, दक्षिण आर्काट एवं रामनाथपुरम् के शिलालेखों में उल्लिखित उपज जितनी ही ऊँची उपज का वर्णन करते हैं। अलाहाबाद क्षेत्र से १८०३ ईस्वी में एक यूरोपीय पर्यवेक्षक ७.५ टन प्रति हेक्टेयर गेहूँ की उपज का वर्णन करता है,[१२] और १८०७ का एक ब्रितानी प्रशासक कोयम्बतूर में उस समय धान की उपज १३.० टन प्रति हेक्टेयर के आसपास आँकता है।[१३]

अठारहवीं शती के चेङ्गलपेट् में पानी एवं उर्वरकता को सहेज-सहेज कर प्राप्त की गयी अपेक्षाकृत उपजाऊ भूमि पर २.५ टन प्रति हेक्टेयर की उस क्षेत्र की माध्य उत्पादकता से कहीं

---

[१०] उपज के राजस्व अंश को एक चौथाई जितना ऊँचा और 'कलम्' के माप को अति न्यून आँककर कतिपय इतिहासकार इन शिलालेखों से ४-५ टन प्रति हेक्टेयर के स्तर की उत्पादकता का आकलन करते हैं। उदाहरणतया देखिये, *कैम्ब्रिज एकानामिक हिस्टरी आफ इण्डिया*, दिल्ली १९८४, में एल.बी. अलायेव का लेख, खण्ड १, पृ.२३१-२।

[११] *कैम्ब्रिज एकानामिक हिस्टरी आफ इण्डिया*, दिल्ली १९८४, में एल.बी. अलायेव का लेख, उपरोक्त।

[१२] *एडिनबर्ग रिव्यू*, खण्ड ४ अङ्क ८, जुलाई १८०४, में पृ. ३२३ पर उद्धृत डा. टेनेन्ट की कृति *इण्डियन रिक्रिएशनस*, १८०३ के अंशों से।

[१३] देखिये, आर. रत्नम, *एग्रीकल्चरल डिवेलपमेंट इन मद्रास स्टेट परायर टु १९००*, मद्रास १९६६, पृ. ८७।

Centre for Policy Studies www.cpsindia.org

अधिक उपज होती थी। क्षेत्र की सर्वोत्तम भूमि पर ३५ कलम् प्रति काणि अथवा ९ टन प्रति हेक्टेयर तक उत्पादन होता था। ५००० कलम् प्रति वर्ष से अधिक अन्न उपजाने वाले क्षेत्र के ६५ ग्रामों की माध्य उत्पादकता १८ कलम् प्रति काणि अथवा ४.५ टन प्रति हेक्टेयर बैठती थी। इन ६५ ग्रामों में क्षेत्र की कुल जोत का छठा भाग और कुल उपज का तीसरा भाग आ जाता था।

विपुल मात्रा में अन्न उपजाने और उसका उदारता के साथ वृहत् संविभाजन करने के सनातन भारतीय अनुशासन का पालन अपने देश में ऐसी श्रमसाध्य सम्पूर्णता के साथ हुआ करता था। भारत ने 'अन्नं बहु कुर्वीत' और 'न कञ्चन वसतौ प्रत्याचक्षीत' के श्रुतिसम्मत व्रतों के अनुरूप व्यवस्था करना कदाचित् बहुत पहले सीख लिया था और अभी कुछ सौ वर्ष पूर्व तक हम उन व्रतों के अनुरूप जीवन जीते आये हैं।